



ISSN Print: 2394-7500  
ISSN Online: 2394-5869  
Impact Factor: 5.2  
IJAR 2020; 6(8): 312-315  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
Received: 14-06-2020  
Accepted: 23-07-2020

डॉ. नीरव अडालजा  
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग,  
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज  
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,  
भारत

## राष्ट्रवाद की अवधारणा और हिंदी पत्रकारिता

डॉ. नीरव अडालजा

प्रस्तावना

राष्ट्रवाद एक नितांत आधुनिक अवधारणा है। यह राष्ट्र राज्य की निर्मिति से जुड़ा है। एक निश्चित भूखण्ड एवं एक आम राजनीतिक एवं आर्थिक रूप वाली जनता के समुदाय के बीच 'एकत्व' के मनोवैज्ञानिक एहसास के साथ की राष्ट्र की पहचान अस्तित्व में आई। एकत्व की यह प्रक्रिया जनता के आम रस्मों-रिवाज तथा परम्परा से और तीव्र हो गयी। पश्चिमी यूरोप में सामन्ती उत्पीड़ना से मुक्ति का वायदा राष्ट्रवाद के उदय का कारण था। राष्ट्रीयता मूलतः पूँजीवादी समाज व्यवस्था का ही लक्षण है। 19वीं सदी को राष्ट्रवाद का 'युग' माना जाता है। इस समय प्रत्येक राज्य 'राष्ट्र राज्य' की आधार भूमि पर खड़े होते हैं और यह धारणा बलवती होती है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता का अपना अलग राज्य होना चाहिए। मध्ययुग में सभ्यता का निर्धारक तत्व धर्म था, राष्ट्रीयता नहीं। राष्ट्रवाद को आधुनिकतावाद और उसके परिणामों के समरूप समझा जाता है। इस अर्थ में यह पुरानी व्यवस्था को भंग करने वाली शक्ति है।

राष्ट्र का सम्बन्ध राष्ट्र के स्वरूप से है। यह आधुनिक पूँजीवाद, औद्योगिकरण, जनसंचार माध्यम, साक्षरता का प्रसार, मुद्रा की अर्थव्यवस्था, नगरों के विकास तथा धर्म निरपेक्षता का परिणाम है।

राष्ट्र, राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद की अवधारणाओं का विकास भी यूरोप की उदारवादी राजनीतिक, विचारधारा औद्योगिक क्रांति, पूँजीवादी व्यवस्था लोकतंत्र एवं बाजार की व्यवस्था के विकास के साथ जुड़ा है। व्यवहार में राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं निष्ठा, राष्ट्रीय परम्पराओं का गौरवगान एवं राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग की भावना के साथ एक विशेष भू-भाग के भौगोलिक रूप के प्रति सम्पृक्ति एवं भक्ति राष्ट्रवाद के मूल तत्व हैं।

पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसे सम्मोहक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उभरा है जिसने इतिहास रचने में योगदान किया है। इसने उत्कट निष्ठाओं के साथ-साथ गहरे विद्वेषों को भी प्रेरित किया है। इसने जनता को जोड़ा है तो विभाजित भी किया है। इसने अत्याचारी शासन से मुक्ति दिलाने में मदद की तो इसके साथ यह विरोध, कटुता और युद्धों का कारण भी रहा है। साम्राज्यों और राष्ट्रों के ध्वस्त होने का यह भी एक कारण है। राष्ट्रवादी संघर्षों ने राष्ट्रों और साम्राज्यों की सीमाओं के निर्धारण पुनर्निर्धारण में योगदान किया है। आज भी दुनिया का एक बड़ा भाग विभिन्न राष्ट्र राज्यों में बंटा हुआ है हालांकि राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्संयोजना की प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है और मौजूदा राष्ट्रों के अंदर भी अलगाववादी संघर्ष आम बात है। राष्ट्रवाद कई चरणों से गुजर चुका है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में इसने कई छोटी-छोटी रियासतों के एकीकरण से वृहत्तर राष्ट्र-राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। आज के जर्मनी और इटली का गठन एकीकरण और सुदृढीकरण की इसी प्रक्रिया के जरिए हुआ था।

राष्ट्रवाद बड़े-बड़े साम्राज्यों के पतन में हिस्सेदार रहा है। यूरोप में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ऑस्ट्रियाई-हंगेरियाई और रूसी साम्राज्य तथा इनके साथ एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली साम्राज्य के विघटन के मूल में राष्ट्रवाद ही था।

**Corresponding Author:**

डॉ. नीरव अडालजा  
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग,  
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज  
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,  
भारत

भारत तथा अन्य पूर्व उपनिवेशों के औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र होने के संघर्ष भी राष्ट्रवादी संघर्ष थे। ये संघर्ष नियंत्रण से स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य स्थापित करने की आकांक्षा से प्रेरित थे। राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया अभी जारी है। 1960 के दशक से ही, सीधे तौर पर सुस्थिर राष्ट्र-राज्य भी कुछ समूह या अंचलों द्वारा उठाई गई राष्ट्रवादी माँगों का सामना करते रहे हैं। इन माँगों में पृथक राज्य की माँग भी शामिल है। आज दुनिया के अनेक भागों में हम ऐसे राष्ट्रवादी संघर्षों को देख सकते हैं जो मौजूदा राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए खतरे पैदा कर रहे हैं।

राष्ट्र बहुत हद तक एक 'काल्पनिक' समुदाय होता है जो अपने सदस्यों के सामूहिक विश्वास, आकांक्षाओं और कल्पनाओं के सहारे एक सूत्र में बंधा होता है। यह कुछ खास मान्यताओं पर आधारित होता है जिन्हें लोग उस समग्र समुदाय के लिए गढ़ते हैं जिससे वे अपनी पहचान कायम करते हैं। लोकनायक जयप्रकाश नारायण का राष्ट्रीय एकता के प्रयासों से लम्बे समय तक सम्बन्ध रहा। उनका कहना था "राष्ट्रीय निष्ठा के निर्माण की प्रक्रिया धीमी होती है और हमें एक मजबूत एकीकृत राष्ट्र बनाने के लिए लंबे समय तक काम करना होगा।"<sup>[1]</sup> उनका कहना था कि राष्ट्र अनेक तत्वों से मिलकर बनता है जैसे : धर्म, नस्ल, भाषा, इतिहास, संस्कृति, परंपरा और भौगोलिक क्षेत्र। वस्तुतः ये सारे तत्व राष्ट्र की तुलना में संकीर्ण निष्ठाएँ हैं। राष्ट्रीयता ऐसी मनःस्थिति है जिसमें प्रत्येक नागरिक इन संकीर्ण निष्ठाओं अज्ञेय हितों की तुलना में व्यापक राष्ट्रीय निष्ठा और हित को तरजीह दे।

भारत एक निश्चित भू-क्षेत्र में रहने वाले लक्ष-लक्ष जन की अतीत की समान स्मृतियों, परम्पराओं, संस्थाओं, आख्यानों, प्रतीकों, वर्तमान के संघर्षों, संरचनाओं, विचारों, आकांक्षाओं, जय-पराजय, संकल्पों और भविष्य के सपनों, लक्ष्यों, आदर्शों से परिपूरित एक राष्ट्र है।

भूक्षेत्रीय एकीकरण, राजनीतिक सत्ता, धार्मिक, आंदोलनों, सामाजिक संस्थाओं तथा सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से एकीकृत भारत भूभाग की कल्पना अत्यंत प्राचीन है। औपनिवेशिक शासन के पूर्व नंदों एवं मौर्यों से ले कर मुग़लों तक एक संपूर्ण भूभाग के राजनीतिक एकीकरण के अनेक प्रयास हुए थे। इस प्रसंग में अशोक एवं औरंगज़ेब की विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है। औपनिवेशिक शासन से पूर्व का भारत, राजनीतिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से औपनिवेशिक काल के भारत से कम एकीकृत नहीं था। पूर्व औपनिवेशिक भारत साम्प्रदायिक दंगों से मुक्त था। सन् 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम एक ओर तो भारतीय राष्ट्रीयता के प्रस्फुरण का पहला चरण है वहीं यह हमारे राष्ट्रीय जीवन में दो काल खण्डों के बीच एक प्रकार से विभाजक का काम करता है।

स्वाधीनता संघर्ष का युग बीते अभी ज्यादा समय नहीं हुआ है व्यक्ति का जीवन गौण हो गया था। समाज और राष्ट्र के प्रश्न मूल्यांकन हो गए थे। स्वाधीनता संघर्ष एक अखिल भारतीय आंदोलन था जिसमें लाखों लोगों ने हिस्सा लिया था वह माहौल आज कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। राष्ट्रीय निर्माण की मूल प्रतिज्ञा धूमिल पड़ चुकी है। पिछले एक दशक में चीजों को देखने का नज़रिया बड़ी तेजी से बदला है चारों तरफ स्वार्थपरता और अवसरवाद की भयानक संड़ाघ

है।

विडम्बना यह है कि जिस गति से राष्ट्रीयता की भावना विरल होती जा रही है उसी तीव्रता से राष्ट्रीय एकता का सवाल विभिन्न मंचों से उठाया जाने लगा है लेकिन इसमें चकित होने वाली कोई बात नहीं है। यह एक सीधा सादा गणित है। बात यह है कि जब एक प्रेरक मूल्य के रूप में राष्ट्रीयता को समाज के बाहर कर दिया जाता है या दूसरे, गौण मूल्य उस पर हावी हो जाते हैं, तब राष्ट्र के अंदर दरारें पड़ने लगती हैं। राष्ट्र का सिर्फ एक सुनिश्चित भूगोल ही नहीं होता। उनकी एक सुस्पष्ट तथा गतिशील आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था भी होती है। ऐसी व्यवस्था हम पिछले 72 सालों में विकसित नहीं कर सके हैं। उपराष्ट्रीयताओं का प्रश्न भी नए सिरे से सिर उठा रहा है। क्षेत्रीय विषमता का सवाल आज हमारे सामने एक प्रमुख सवाल है। जाहिर है कि जिस संविधान के तहत हमने स्वतंत्र भारत की यात्रा शुरू की थी, कई महत्वपूर्ण मामलों में अधूरा साबित हुआ है। यहाँ तक कि भाषा का निर्णायक प्रश्न भी अनसुलझा पड़ा है, जिसका नतीजा यह है कि एक विदेशी भाषा ही आज भी राष्ट्र को राजनीतिक रूप में जोड़े हुए है। सबसे बड़ी बात यह है कि राजनीतिक तंत्र में वह संवेदनशीलता नहीं रही जिसके कारण व्यवस्था अपने आप अपेक्षाओं के साँचे में ढलती जाती है। इस संवेदनशीलता के अभाव में लोकतंत्र कुछ गिराहों द्वारा सत्ता पर कब्जा करने का एक कानूनी औज़ार हो गया है। हमारे शासकों की वैधता इसके आलावा क्या रह गई है कि उनका निर्वाचन वोट से हुआ है और यह ऐसा वोट है जिसकी पवित्रता हर आम चुनाव के बाद थोड़ी और संदिग्ध हो जाती है।

इन प्रक्रियाओं के कारण राष्ट्र के अंदर एक तरह की कसमसाहट पैदा हो जाना स्वाभाविक है लेकिन शासक वर्ग इस कसमसाहट को समझने की कोशिश नहीं कर रहा है। यह राष्ट्रीयता की क्षीण होती जा रही प्रेरणा का ही नतीजा है कि आज देश में राष्ट्रीय एकता का नारा तो बहुत जोर-जोर से लगाया जा रहा है, लेकिन इस बात की समझ कम दिखाई पड़ती है कि राष्ट्रीय एकता को अचानक खतरा हो गया है तो उसके वास्तविक कारण क्या है। सेना या पुलिस के बल पर किसी भी राष्ट्र को बहुत दिनों तक एक्यबद्ध नहीं रखा जा सकता। अंततः तो राष्ट्र जन इच्छा पर ही टिका हुआ होता है। जब उसकी बेकदरी होती है तभी एक राष्ट्र के अंदर कई राष्ट्र सिर उठाने लगते हैं।

राष्ट्र कोई अमूर्त चीज नहीं है तो राष्ट्रीयता भी कोई अमूर्त भावना नहीं होनी चाहिए। उसकी ठोस शक्त होती है, जिसमें हमारे जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू तीव्रता से जगमगाते हैं।

जनमानस में राष्ट्रीयता की सुप्त भावना जगाने के लिए यह जरूरी है कि राष्ट्रीय व्यवस्था का ऐसा स्वप्न लोगों के सामने रखा जाए जो सभी में उत्साह और उमंग का संचार कर सके।

राष्ट्रीयता का केंद्रीय तत्व है अपने राष्ट्र पर गर्व अपनी राष्ट्रीय परम्परा की गहरी पहचान तथा राष्ट्रीय अस्मिता के साथ आत्मीय तदात्म्य से उपजता है जिसने राष्ट्र को जाना ही नहीं उसके अंदर राष्ट्रीय स्वाभिमान कैसे पैदा हो सकता है? राष्ट्रीय राष्ट्र निर्माण की

अधूरी एवं विकृत कोशिशों के कारण आज अधिकांश भारतीय एक विकृत और दुःसाध्य आत्महीनता के शिकार हो रहे हैं। जब राष्ट्र पर सच्चा गर्व न हो, तब राष्ट्रीय दर्प पैदा करने के झूठे उपायों का सहारा लेना जरूरी होता है।

यही वह संदर्भ है जिसमें हमारी पत्रकारिता को काम करना पड़ रहा है। सवाल यह है कि क्या उसने एक आत्महीन होती हुई जाति की समस्याओं को समझने और उसका विश्लेषण करने की कोशिश की है? यदि हम अपने को व्यवसायिक पत्रकारिता तक ही सीमित रखे, जिसे आज पत्रकारिता की मुख्यधारा कहा जा सकता है, तो स्थिति बहुत आशापूर्ण नहीं प्रतीत होती। पत्रकारिता ने ऐसा कोई विवेक पैदा नहीं किया, जिससे वह पतनशील संस्कृति के समानांतर एक मजबूत दीवार की तरह खड़ी रह सके। यह बात खास तौर से इसलिए हैरत में डालने वाली है कि आजादी के पहले हमारी पत्रकारिता की भूमिका बहुत ही गौरवपूर्ण थी उसने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में किसी से कम भूमिका नहीं निभाई थी। लेकिन आजादी के बाद जैसे राजनीति ने स्वतंत्रता आंदोलन को स्थगित कर दिया उसी तरह पत्रकारिता ने भी मान लिया कि उसके लिए आलोचनात्मक विवेक अब बेकार की चीज हो चुका है। नव प्राप्त स्वाधीनता के कोहरे में सब कुछ इस तरह खो गया जैसे वह वहाँ था ही नहीं। यह सच है कि उसके बाद राष्ट्र कई बार मोहभंग की अवस्था से गुजरा और उसके साथ-साथ पत्रकारिता भी, लेकिन यह भी सच है कि मोटे तौर पर पत्रकारिता भी उसी राष्ट्रहंता अभियान का एक अंग है जो समाज में विभिन्न स्तरों पर छिड़ा हुआ है। इसके निश्चय ही कुछ चमकदार अपवाद हैं, लेकिन बस इस नियम की पुष्टि के लिए कि मनुष्य का विवेक कभी पूरी तरह समाप्त नहीं होता।

औद्योगिक व्यवस्था हर स्तर पर एक परजीवी मध्य वर्ग पैदा कर रही थी, इसलिए उसने पत्रकारिता को भी मध्य वर्ग केन्द्रित बना दिया जिसके सरोकार बहुत सीमित थे। इस बीच इस मध्य वर्ग का चरित्र भी काफी बदल चुका था। उसकी पहले वाली प्रगतिशील भूमिका चीखने लगी थी। पश्चिम में मध्य वर्ग ने कई मायने में प्रगतिशील आज मूलतः समाजद्रोही है वह अभी तक सामाजिक नवजागरण भी नहीं पैदा कर पाया है। यही कारण है कि उसकी पत्रकारिता के सरोकार भी बहुत सीमित हैं। उसमें आम जनता की आशाएँ पर्याप्त यप से प्रतिबिंबित नहीं होती। शक तो इसमें भी है कि वह व्यापक भारतीय समाज को पहचानता भी है या नहीं।

राष्ट्र की परम्परा कितनी संकीर्ण हो गई है, इसका एक प्रमाण यह है कि अक्सर पार्टी या सरकार को ही राष्ट्र मान लिया जाता है पार्टी, सरकार और देश तीनों गड्डमड्ड नजर आते हैं। पार्टी की समस्याएँ ही सरकार की समस्याएँ हैं। सरकार की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ। इस समझ के कारण पत्रकारिता ने राष्ट्रीय जीवन की प्रमुख चुनौतियों की तरह ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी है। जिसे विपक्ष की पत्रकारिता कहते हैं उसकी एक क्षीण धारा जरूर प्रवाहित हुई है, किन्तु अनेक बार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह विपक्ष के कुछ दलों और नेताओं का उद्देश्य सिर्फ सत्ता पर किसी तरह कब्जा करना है उसी तरह यह पत्रकारिता भी किसी बड़े और राष्ट्रीय लक्ष्य से नहीं बल्कि संकीर्ण राजनीतिक हितों से परिचालित हो रही

है। वह सत्ता परिवर्तन को राष्ट्रीय परिवर्तन का प्रतिबिंब मान कर चलती है। यही वजह है कि समाज में जहाँ-जहाँ स्वतः स्फूर्त आंदोलन हो रहे हैं उनकी ओर दोनों की ही निगाह नहीं जाती न राजनीति की और न पत्रकारिता की। राष्ट्रीय लक्ष्यों की खोज, राष्ट्र निर्माण की समस्याओं की पहचान और एक राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ने का संकल्प दोनों में ही कम दिखाई पड़ता है, वह तो असहनीय और अश्लील है आज के दौर में समर्पित पत्रकार कम रह गए हैं और डिजाइनर पत्रकार अधिक हो गए हैं। यह इस बात का भी प्रमाण है कि राष्ट्रीय स्वाभिमान की तो बात ही छोड़िए, नागरिक स्वाभिमान भी हमें रक्षा करने योग्य नहीं लगता।

पत्रकारिता की दुनिया में राष्ट्रीयता के मूल्यों की क्या स्थिति है, इसका ज्ञान निम्न घटनाओं और तथ्यों के अवलोकन से होता है। उत्तर-पूर्व की जीवन स्थितियों में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं ली जाती। दक्षिण भारत के पत्र तो फिर भी उत्तर भारत की राजनीति में अपनी रुचि दिखलाते हैं, लेकिन उत्तर भारत के लिए दक्षिण भारत तब तक महत्वपूर्ण नहीं होता जब तक वहाँ चुनाव या सरकार बनने-बिगड़ने जैसी घटना न हो। शहर में मामूली-सी घटना भी हो तो उसका विस्तार से जिक्र होता है, जबकि गाँवों की हालत क्या है - यह नहीं बताया जाता। देश में कई जगह किसान आंदोलन चल रहे हैं, लेकिन उनकी खबर नहीं दी जाती। इसी प्रकार आदिवासी समूहों के आंदोलन के प्रति उपेक्षा भाव बरता जाता है। यहाँ तक कि विदेशों में बसे भारतीयों की भी खोज-खबर नहीं ली जाती। हाँ, पाकिस्तान के प्रति एक तरह का द्वेष भाव जरूर लगातार दिखाया जाता है, मानो अपनी देशभक्ति प्रमाणित करने का यह एक अच्छा नुस्खा हो। इसमें संदेह नहीं कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में राष्ट्रीयता उस तरह उत्कट नहीं हो सकती जिस तरह उसके पूर्वार्ध में रही। यह क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा अंतर्निभरता का युग है। किन्तु एक समय जो यह कल्पना की जा रही थी कि शीघ्र ही राष्ट्रीयता की दीवारें कमजोर हो जाएँगी और एक विश्व मानव का आविर्भाव होगा, वह भी निर्मूल साबित हुई। जब तक दुनिया में आर्थिक या अन्य किसी भी प्रकार की गैरबराबरी रहेगी, राष्ट्रीय हितों का दबाव बना रहेगा। वैसे एक विषमतारहित विश्व में भी राष्ट्रीय पहचान, राष्ट्रीय स्वाभिमान और राष्ट्रप्रेम के लिए काफी जगह रहेगी। सच्ची राष्ट्रीयता वह नहीं है जो युद्ध के समय व्यक्त होती है - उस वक्त तो वह आत्मरक्षा का आदिम संवेग बन जाती है। सच्ची राष्ट्रीयता वह है जो शांति के समय व्यक्त होती है। खास तौर से तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीयता की गहरी और उद्दाम लहरों की जरूरत है, ताकि वहाँ राष्ट्र निर्माण का अधूरा काम पूरा हो सके।

सहायक ग्रंथ सूची

1. पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य - राजकिशोर, साहित्य सहकर, प्रथम संस्करण -1998 दिल्ली , पृ 46
2. अल्पविकास की राजनीति - जी.ए. हीगर, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण-1977, नई दिल्ली।
3. भारतीय साहित्य में इतिहास की समस्याएँ - रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन-1986, नई दिल्ली।

4. नेशनल एण्ड नेशनलिज्म इन ग्लोबल एरा - स्मिथ, ए.डी, पोलिटी प्रेस, यू.के. 1995.
5. थ्योरीज़ ऑफ नेशनलिज्म - स्मिथ ए.डी, इकवर्थ प्रेस, ब्रिटेन, दूसरा एडिशन-1983.
6. उत्तर आधुनिक परिदृश्य - सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1992, नई दिल्ली।
7. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि - ए.आर. देसाई, छठा प्रकाशन, पॉपुलर, 2005.
8. दि स्टेट इन दि थर्ड वर्ल्ड - ग्राफ विलियम, सोशललिस्ट रजिस्टर, 1995.
9. भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश - रामविलास शर्मा, प्रकाशन किताबघर, 1999.